विभाजन की त्रासदी और हिंदी सिनेमा (भाग-2)

1980 के दशक में हिंदुत्व की अवधारणा की विजय के साथ धार्मिक राष्ट्रवाद लौट आया था। इस पुनरुत्थान का कारण वे ऐतिहासिक ताक़तें थीं, जो एक दूसरे के आगे पीछे और साथ-साथ सक्रिय थीं। जब 1990 के दशक के मध्य में राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन (एनडीए) की सरकार सत्ता में आयी तब उसने आर्थिक उदारीकरण की उन्हीं नीतियों को अपनाया जो कांग्रेस सरकारें लागू कर रही थीं। कांग्रेस पार्टी की तरह एनडीए सरकार ने भी अभिजात वर्गों के हितों को ही पोषित करने का काम किया और आम जनता को इस या उस विचारधारात्मक भुलावे में फँसाये रखा। इसमें मुख्य हथियार बनी हिंदुत्व की विचारधारा। हिंदुत्व के अनुरूप राष्ट्रवाद को नये साँचे में ढालने के लिए इतिहास के एक नये संस्करण की ज़रूरत थी। इसलिए एनडीए सरकार के समय भारतीय जनता पार्टी ने राष्ट्रीय इतिहास के पुनर्लेखन का सुव्यवस्थित कार्यक्रम चलाया। इतिहासकारों और उनके काम को यह कहकर हमले का निशाना बनाया गया कि उन्होंने अतीत को 'विकृत' किया है। इस दौर में बनायी गयी फ़िल्में बिल्कुल भिन्न तरह का मक़सद पूरा कर रही थी। गदर: एक प्रेमकथा (2001) और एल. ओ. सी. (2003) में अन्य का चित्रण गुस्से और घृणा के साथ किया गया है जिससे कि हिंसक प्रतिशोध लिए जाने की ज़रूरत है।

पिंजर (2003) में स्व और अन्य के बीच की भिन्नता को बनाए रखना मुश्किल दिखायी देता है। ट्रेन टु पाकिस्तान (1997) और अर्थ: 1947 (1999) में विभाजन के दौर की स्मृतियों, उस दौर के जख़्मों को जीवित करने का प्रयास किया गया है। नसीम (1995) और ज़ुबैदा (2001) जटिल फ्लैशबैक या सामयिक रिसाव पर बल देने वाले गुंथे हुए आख्यान के जरिए जख़्मी व्यक्तिपरकताओं को पकड़ती हैं। विभाजन से उत्पन्न शोक के प्रति ये भिन्न-भिन्न नज़रिए भारत में समुदाय के भविष्य के लिए भिन्न-भिन्न आशयों के साथ ऐतिहासिक चेतना के भिन्न-भिन्न रूपों को प्रोत्साहित करते हैं।

इसी माहौल में प्रदर्शित फ़िल्म ग़दर: एक प्रेमकथा विभाजन की कहानी को पेश करती है जिसमें एक जाट सिख तारा सिंह अपनी मुस्लिम पत्नी सकीना को उसके पिता के चंगुल से छुड़ाने के लिए पाकिस्तान जाता है और वहाँ की सत्ता और फ़ौज से मुक़ाबला कर अपनी पत्नी को वापस हिंदुस्तान ले आता है। यह फ़िल्म इस लोकप्रिय भारतीय दृष्टिकोण का प्रचार करती है कि पाकिस्तान मुसलमानों द्वारा अपने लिए अलग राज्य की माँग का नतीजा है जिसका निहितार्थ यह है कि हिंदू और सिख नेताओं और उनके राजनीतिक आकलन की इस विभाजन में कोई भूमिका नहीं है। ग़दर की तरह बॉर्डर और एल. ओ. सी. भी सैन्य राष्ट्रवाद को बढ़ावा देती हैं, जबकि 2000 में प्रदर्शित फ़िल्में हे राम, मिशन कश्मीर और फ़िज़ा राष्ट्रवाद में निहित अंतर्विरोधों को सामने लाती हैं। ये फ़िल्में आजादी के तीन दशक बाद देश में हिंदू-मुस्लिम संबंधों में बढ़ रहे तनाव की कहानियाँ कहती हैं। जहाँ हे राम गांधी की हत्या की हिंदू राष्ट्रवादियों की कोशिशों पर है और जिसे बाबरी मस्जिद और उसके बाद हुए दंगों से जोड़ा गया है तो फ़िज़ा मुसलमानों में बढ़ रही असुरक्षा को विषय बनाती है। इस हालात पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण फ़िल्म सईद अख्तर मिर्ज़ा की नसीम है। यह विभाजन पर बनी फ़िल्म नहीं है बल्कि यह उन सामाजिक और राजनीतिक हालात के बारे में है जिनसे भारत में अल्पसंख्यक मुस्लिम समुदाय को रोज़ टकराना होता है। ये हालात अचानक पैदा नहीं हुए हैं। 1947 के बाद से ही इसके पदचिह्नों को देखा जा सकता है। यह फ़िल्म एक मुस्लिम परिवार के उन दिनों की कहानी है जब 1992 में बाबरी मस्जिद तोड़ी गयी थी। इस परिवार में तीन पीढ़ियाँ एक साथ रहती हैं। दादा जान जिसकी भूमिका उर्दू के प्रगतिशील शायर कैफ़ी आज़मी ने निभायी थी और उनकी पोती नसीम जिसका अपने दादा से ख़ास लगाव है। दादा जान की मौत उसी 6 दिसंबर 1992 की सुबह में होती है जिस दिन बाबरी मस्जिद संघ परिवार द्वारा ध्वस्त कर दी गयी थी। रमजान का महीना है लेकिन पूरे माहौल में तनाव भरा है। दादा जान जो एक प्रगतिशील मुसलमान हैं अपने पोते मुश्ताक और उसके दोस्त ज़फ़र को समझाने में नाकामयाब हैं। दंगों में मुसलमान ही क्यों मारा जाता है, का जवाब देते हुए जब दादा जान कहते हैं कि मुसलमान नहीं ग़रीब मारा जाता

है तो ज़फ़र उनकी बात का जवाब देते हुए कहता है कि आज़ादी के बाद से मुसलमानों को साज़िशी तरीक़े से ग़रीब बनाये रखा गया है।

कृष्ण खन्ना, पलायन, 2007

बाबरी मस्जिद तोड़े जाने के दिन दादा जान की मृत्यु जैसे भारत में धर्मनिरपेक्ष राजनीति की समाप्ति की सूचक प्रतीत होती है और उस वामपंथी राजनीति की भी जो वर्गीय असमानताओं को प्रमुखता से सामने लाती है न कि धार्मिक भिन्नताओं को। नसीम के दादा कई रूपों में गरम हवा के युवा सिकंदर हैं जिन्होंने इस उम्मीद में भारत में रहने का निश्चय किया था कि वे अपने वामपंथी साथियों के सच्चे समुदाय के बीच रहते हुए वर्ग उत्पीड़न और धार्मिक कट्टरता से लड़ सकेंगे। दोनों फ़िल्मों में अंतरपाठीय संबंध वामपंथी कवि कैफ़ी आज़मी की दादा की भूमिका में उपस्थिति है। कैफ़ी आज़मी ने ही गरम हवा की पटकथा लिखी थी। एक साथ विचार करने पर, 1973 और 1995 की दोनों फ़िल्में मुस्लिम-भारतीय आत्म-चेतना का गहन मर्मस्पर्शी चित्रण प्रस्तुत करती हैं जो खोते जाने और टूटी-फूटी ज़िंदगी की असंगत माँगों से नष्ट हो चुकी है। पहली नज़र में देखने पर फ़िल्म यह कहती प्रतीत होती है कि इस व्यक्तिपरकता में निहित तंतु खो गया है जो अधिक सौहार्दपूर्ण राष्ट्रीय भविष्य के स्वप्न को समर्थ करता। लेकिन ऐसा नहीं है। नसीम में दादा जान की मृत्यु का अर्थ यह नहीं है कि धर्मनिरपेक्ष राजनीति हमेशा के लिए ख़त्म हो चुकी है। मृत्यु या विलोपन का अर्थ पूर्णतः उन्मूलन नहीं है। कुछ निशान पीछे छूट जाते हैं। हमारी चेतना में वे घर किये रहते हैं और हमें बार-बार याद दिलाते हैं। प्रत्येक नुक़सान की यह स्थायी ताक़त है- एक रचनात्मक संभावना जो हमारे हृदय में बनी रहती है। अगर आज भारत में धर्मनिरपेक्षता की मौत हो चुकी है, तो, इसका यूटोपियाई आयाम हमारी स्मृतियों में बचा रहता है।

भूमंडलीकरण के इन तीन दशकों में संघ परिवार ने सांप्रदायिक राष्ट्रवाद की जिस विचारधारा को बढ़ावा दिया है, इतिहास और परंपरा का जिस तरह सांप्रदायिक विकृतीकरण किया है, उसका गहरा असर अब हिंदी फ़िल्मों पर भी दिखने लगा है। बाजीराव मस्तानी, पद्मावत, तान्हाजी, पानीपत, केसरी, सम्राट पृथ्वीराज, छावा आदि कई फ़िल्में बनी हैं जिनमें इतिहास के विकृतीकरण और सांप्रदायिकीकरण को देखा जा सकता है। नरेंद्र मोदी के शासनकाल में सिनेमा के माध्यम से इतिहास का ही सांप्रदायिकीकरण नहीं हो रहा है वरन हमारे अपने समय की घटनाओं को भी सांप्रदायिक नज़रिए से पेश किया जा रहा है। 1966 में पाकिस्तान और भारत के बीच ताशकंद में समझौता हुआ था और समझौते के बाद दुर्भाग्य से तत्कालीन प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री की हृदयाघात से मृत्यु हो गयी थी, उस समय संघ परिवार ने जिस तरह की अफ़वाहें फैलायी थीं, उन्हीं अफ़वाहों को सच मानकर दि ताशकंद फाइल्स फ़िल्म बनायी गयी। यह और बात है कि जनता ने इस फ़िल्म को पूरी तरह से ठुकरा दिया। लेकिन कश्मीर में पंडितों के पलायन को लेकर बनायी गयी दि कश्मीर

फाइल्स जनता को दिग्भ्रमित करने में काफ़ी हद तक कामयाब रही है। सिनेमा द्वारा सांप्रदायिकता का ज़हर किस तरह फैलाया जा सकता है, इसका सबसे भयावह उदाहरण यह फ़िल्म है जिसने सिनेमा के पर्दे पर मुस्लिम समुदाय को खलनायक की तरह पेश किया और 1990 में कश्मीर से पंडितों के पलायन के लिए पूरी तरह से उन्हें ज़िम्मेदार ठहराया और इस तथ्य को पूरी तरह से छोड़ दिया गया कि कश्मीर में आतंकवाद और भारतीय सेना की कार्रवाइयों का सबसे ज़्यादा शिकार वहाँ के मुसलमान ही हुए हैं।

फ़िल्म दि केरला स्टोरी (2023) दि कश्मीर फाइल्स से एक क़दम आगे कही जा सकती है, जो पूरी तरह से एक ऐसे मुद्दे पर बनायी गयी है, जो आरएसएस और उससे संबद्ध संगठनों द्वारा प्रचारित किया गया है। वह मुद्दा है- लव जिहाद। फ़िल्म का दावा है कि केरल राज्य से 32000 हिंदू लड़कियों का ब्रेनवॉश करके और मुस्लिम लड़कों के जाल में फँसाकर उन्हें शादी करने के लिए मजबूर किया गया, उनका धर्म परिवर्तन किया गया और बाद में उनके कथित पतियों के साथ सीरिया, यमन आदि इस्लामी देशों में आईएसआईएस जैसे आतंकवादी संगठनों में यौन दासी के रूप में भेज दिया गया। इन बत्तीस हज़ार औरतों का आज कुछ भी पता नहीं है। उनके साथ क्या हुआ कोई नहीं जानता। जब बत्तीस हज़ार की संख्या को कोर्ट में चुनौती दी गयी तो फ़िल्म के निर्माता और निर्देशक ने बताया कि यह सरकारी आँकड़ा है लेकिन तब यह स्पष्ट किया गया कि केरल सरकार ने कभी भी यह आँकड़ा नहीं पेश किया केवल पूर्व मुख्यमंत्री ओमान चांडी ने वे आँकड़े ज़रूर पेश किये थे जिसमें हिंदू, मुसलमान और ईसाई धर्मावलंबियों ने अपना धर्म छोड़कर दूसरा धर्म अंगीकार कर लिया था और वह संख्या दो-ढाई हज़ार से ज़्यादा नहीं थी। उस समय मुख्यमंत्री ने यह भी बताया कि इनमें से कोई भी जबरन धर्मपरिवर्तन का मामला नहीं था। फ़िल्मकार ने जब कोई प्रमाण पेश नहीं किया तो कोर्ट के आदेश पर 32000 के इस आँकड़े को हटा दिया गया और इस संख्या को घटाकर केवल तीन कर दिया गया। जिन तीन लड़कियों की कहानी फ़िल्म में कही गयी है उसके बारे में फ़िल्मकार का दावा है कि ये सत्य घटनाओं पर आधारित हैं। पिछले 12 सालों में ऐसी कई प्रोपेगेंडा फिल्में बनी हैं जिनमें तथ्यों को तोड़-मरोड़कर या पूरी तरह झूठ का सहारा लेकर मुसलमानों के विरुद्ध घृणा का प्रचार किया गया है। हालाँकि ज़्यादातर फिल्मों को जनता ने पूरी तरह नकार दिया है लेकिन दि केरला स्टोरी, उरी : दि सर्जिकल स्ट्राइक, आर्टिकल 370, छावा, धुरंधर जैसी कई फिल्में कामयाब भी हुई हैं। इस तरह की प्रोपेगेंडा फिल्में हिंदी सिनेमा का कभी आदर्श नहीं रही हैं।

जोगेन चौधरी, सियालदह रेलवे स्टेशन में रेफ़्यूजी, 1958

हमारे देश की हज़ारों साल की साझा संस्कृति की विरासत, संविधान प्रदत्त लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों और हर तरह के भेदभाव को समाप्त कर एक समतावादी-न्यायपूर्ण समाज बनाने के हमारे लक्ष्य को ख़त्म करना इतना आसान नहीं है। हिंदी सिनेमा में जो वैचारिक विचलन नज़र आ रहा है, उसका मुख्य कारण सांप्रदायिक फासीवादी राजसत्ता का दबाव है। इस दबाव ने एक बार फिर न केवल विभाजन को बल्कि भारत और पाकिस्तान के आपसी संबंधों को नए नज़रिए से देखने पर ज़ोर दिया है। मौजूद राजसत्ता के पक्ष में प्रचार के लिए बनाई जाने वाली फिल्मों के विपरीत लगातार ऐसी फिल्में भी बनती रही हैं जो हिंदू-मुसलमान और भारत-पाकिस्तान के बीच नफ़रत की बजाय आपसी भाईचारे और सौहार्द की बात करती हैं। वीर जारा, पीके, इक्कीस जैसी कई फिल्मों में पाकिस्तान को शत्रु देश के रूप में पेश नहीं किया गया है बल्कि दोनों देशों के लोगों के बीच मौजूद सौहार्द और भाईचारे पर बल दिया गया है। अभी हाल में प्रदर्शित मैं वापस आऊँगा और बँटवारा 1947 भारत के विभाजन को सांप्रदायिक नज़रिए से नहीं बल्कि पारस्परिक प्रेम और मानवीय सौहार्द के रूप में प्रस्तुत करती हैं।

हिंदी फ़िल्मकार इम्तियाज अली की फ़िल्म मैं वापस आऊँगा (2026) में विभाजन की कहानी स्मृतियों के रूप में सामने आती है। फिल्म के नायक हैं- 95 वर्षीय ईशर सिंह ग्रेवाल (नसीरुद्दीन शाह), जो मृत्यु शैय्या पर हैं और डिमेंसिया और अल्जाइमर के मरीज़ हैं। वर्तमान और अतीत दोनों उनके अंदर गड्डमड्ड हो गए हैं। वे अपनी जन्मभूमि सरगोधा जाना चाहते हैं। उनके सामने 1947 से पहले की कहानी के पन्ने एक-एक कर सामने आने लगते हैं। अपने बचपन की घटनाएँ याद आती हैं, अपनी प्रेमिका याद आती है। उन्हें देखने के लिए उनका पोता निर्वैर सिंह (दिलजीत दोसाँझ) लंदन से आता है। उसे जब पता चलता है कि उसके दादा ईशर सिंह अपनी जन्मभूमि सरगोधा और अपने बचपन की प्रेमिका की याद में परेशान हैं, तो वह पाकिस्तान चला जाता है। उसकी कोशिश है कि वह विडियो कॉल के ज़रिए ही अपने दादा को उनके बचपन की प्रेमिका से बात करवा दे। लेकिन वहाँ जाकर पता चलता है कि उनकी प्रेमिका अब नहीं रही। अतीत की स्मृतियों के रूप में कई प्रसंग बार-बार इस बात को रेखांकित करते हैं कि विभाजन लोगों पर थोपा गया है। एक दृश्य में कीनु (ईशर सिंह के पुकार का नाम) यह कहते हुए सड़क पर बैठ जाता है कि 'मैंने तो नहीं कहा था देश का बँटवारा करने को। मैं तो नहीं जाता यहाँ से'। विभाजन पर पहले बनी अधिकतर फ़िल्मों से यह इस अर्थ में भिन्न है कि यह संभवत: पहली फ़िल्म है जो विभाजन की विभीषिका को एक ऐसे ट्रॉमा के रूप में पेश करती है जिससे बाद की पीढ़ियों के लिए मुक्त होना आसान नहीं है। यह उस अतीत को ऐसी स्मृतियों के रूप में पेश करती है जिसके परिप्रेक्ष्य में हम अपने वर्तमान को देख और समझ सकते हैं। यह फ़िल्म वर्तमान में चलती है लेकिन स्मृति के रूप में विभाजन बार-बार आता है। विभाजन और विस्थापन का अतीत और वर्तमान दोनों एक-दूसरे में इस कदर घुल-मिल जाते हैं कि जब फ़िल्म समाप्त होती है तो ऐसा लगता है कि विस्थापन की त्रासदी समाप्त नहीं हुई है बल्कि इसके घाव देश की सीमाओं को लाँघते हुए कैंसर की तरह दुनिया के हर हिस्से में पहुँच चुके हैं क्योंकि न फासीवाद समाप्त हुआ है और न ही साम्राज्यवाद। अतीत में बहुत दूर न भी जाएँ तो भी दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से युद्ध, नरसंहार और निरंतर चलने वाला विस्थापन पिछले 80 साल के इतिहास की सबसे भयावह सचाई है।

बँटवारा 1947 हिंदी के प्रख्यात नाटककार असग़र वजाहत के लोकप्रिय नाटक 'जिस लाहौर नइ देख्या ओ जम्याई नइ' पर आधारित राजकुमार संतोषी की फिल्म है। फ़िल्म में सिकंदर मिर्जा का परिवार विभाजन के समय भारत छोड़कर पाकिस्तान जाने पर मजबूर होता है। उसे लाहौर में जो घर अलॉट होता है, उसमें एक हिंदू महिला (माई) रह रही होती है। मिर्जा के कहने के बावजूद वह अपना घर छोड़ने को तैयार नहीं होती। पहले तो मिर्जा के परिवार और माई में तनाव पैदा होता है। शहर के और लोग भी उसे निकालने की कोशिश करते हैं, उसकी हत्या तक की साज़िश होती है लेकिन मिर्जा का परिवार इसे मंज़ूर नहीं करता और माई को अपना लेता है, वह उनके साथ रहने लगती है। जब माई की मृत्यु हो जाती है तो मिर्जा का परिवार, मस्जिद के मौलवी और मोहल्ले के लोग मिलकर उसका हिंदू रीति से अंतिम संस्कार करते हैं। नाटक की तरह फिल्म का संदेश भी बहुत स्पष्ट है– हिंदुओं और मुसलमानों के बीच उस सौहार्द को जगाना जो उनके बीच सैकड़ों सालों से साथ-साथ रहने के कारण पहले से उनके दिलों में कायम था। माई सिकंदर के परिवार को मुसलमान की तरह नहीं देखती बल्कि अपने देश और ज़मीन से उखड़े हुए ऐसे बेघर लोगों की तरह देखती है जिन्हें मदद की ज़रूरत है। उसकी यह भावना धीरे-धीरे सिकंदर के परिवार को ही नहीं पूरे मोहल्ले के लोगों को उसकी ओर खींचने लगती है। एक बार माई घर छोड़कर जाने लगती है तो मोहल्ले के लोग उसे वापस ले आते हैं। फ़िल्म मिर्जा की बेटी तनु द्वारा पूछे गए सवाल का बहुत माकूल जवाब देती है कि जब हम और माई साथ-साथ रह सकते हैं तो हिंदू और मुसलमान साथ-साथ क्यों नहीं रह सकते।

मैं वापस आऊँगा से बँटवारा 1947 की तुलना उचित नहीं है लेकिन यह फिल्म विभाजन की विभीषिका को दिखाते हुए भी किसी समुदाय को ज़िम्मेदार ठहराने की कोशिश नहीं करती जैसा कि ग़दर जैसी कुछ फिल्में करती रही हैं। लेकिन फिल्म की सीमा यह है कि वह उन सांप्रदायिक राजनीतिक संगठनों की ओर भी उँगली नहीं उठाती जिस पर नाटक में सवाल उठाया गया है।

जवरीमल्ल पारख
सिनेमा पर नियमित लिखने वाले जाने-माने लेखक